सम्पादक
मार्कण्डेय
कथा

नागार्जुन

शिव प्रसाद सिंह

को कथा परिवार की

हार्दिक श्रद्धांजलि

कथा के इस अंक को
प्रकाशित करने के व्यय में
श्री कान्ता पित्ती ट्रस्ट
हैदराबाद से
आर्थिक सहायता मिली है।

वीर भारत तलवार

शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य का नियंत्रण

हंटर आयोग के सामने भारतेन्दु हरिश्चंद्र का बयान

सन् १८८२ में भारत की औपनिवेशिक सरकार ने शिक्षा के नए ढांचे और कार्यक्रम का पता लगाने के लिए डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग बनाया था जो हंटर आयोग के नाम से मशहूर हुआ। इस आयोग ने शिक्षा संबंधी १८५४ के डिस्पैच को लागू करने के लिए, खासकर शिक्षा की योजना में सरकार जिस तरह के बदलाव लाना चाहती थी, उसके बारे में टोह लेने के लिए, कई सवालों की सूची तैयार की जिस पर सार्वजनिक जीवन और शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों से उनकी राय पूछी गई। युक्त प्रांत (अवध और पश्चिमोत्तर प्रांत) की जिन बड़ी हस्तियों से आयोग ने सवाल पूछे, उनमें सर सैयद अहमद खां, राजा शिवप्रसाद, राजा जयकिशन दास, राजा उदयप्रताप सिंह, पं. लक्ष्मीशंकर मिश्र, बाबू तोताराम और बाबू दुर्गाप्रसाद वगैरह के साथ बाबू हरिश्चंद्र भी थे। आयोग के सत्तर सवालों का जवाब देते हुए भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने जो विचार व्यक्त किए, खासकर शिक्षा के नियंत्रण और संचालन तथा स्त्री शिक्षा के प्रश्न पर, उन पर हिन्दी के आलोचकों ने बहुत कम गौर किया है। १६वीं सदी के नवजागरण में शिक्षा का सवाल बुनियादी सवालों में था। नवजागरण में भारतेन्दु की भूमिका को समझने के लिए आयोग के सामने रखे गए उनके शिक्षा संबंधी विचारों का अध्ययन करना जरूरी है। भारतेन्दु का यह बयान श्रीनारायण पाण्डे की किताब **भारतेन्दु हरिश्चंद्र : नए संदर्भ की तलाश** के अंत में शामिल है। इस लेख में दिए गए उद्धरण उसी किताब से है।

शुरु में पूछे जाने पर भारतेन्दु ने अपना परिचय देते हुए खुद को हिन्दी और उर्दू के साथ संस्कृत का कवि भी बतलाया लेकिन ब्रजभाषा का नाम नहीं लिया जिसमें उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी, उर्दू और संस्कृत, तीनों से ज्यादा कविताएं लिखी थीं। उन्होंने शिक्षा में अपनी दिलचस्पी, बनारस शहर में खुद एक प्राथमिक पाठशाला खोलने और बनारस एजूकेशन कमेटी में अपने सदस्य रह चुकने की बात बताई। आयोग के सवालों का जवाब देते हुए उन्होंने, जहां भी जरूरत पड़ी, सरकारी दस्तावेजों से आंकड़े और टिप्पणियां उद्धृत कीं। शिक्षा विभाग की बनाई पाठ्य-पुस्तकों पर अपनी राय संक्षेप में देने से उन्होंने इनकार कर दिया। इसकी एक वजह शायद राजा शिवप्रसाद – जिनके मातहत ये किताबें बनाई गई थीं -- के बारे में किसी विवाद में न पड़ने की उनकी सावधानी रही होगी। सभी सवाल अंग्रेजी में पूछे गए थे जिनके जवाब भारतेन्दु ने अच्छी-खासी अंग्रेजी में दिए। तबीयत खराब रहने के कारण आयोग के सामने जाकर बयान देने के बजाय उन्होंने जवाब घर से लिखकर भिजवाए।

आयोग के सवालों के जवाब में भारतेन्दु ने पश्चिमोत्तर प्रांत में प्राइमरी शिक्षा की सरकारी व्यवस्था को मजबूत बुनियाद पर टिकी मानते हुए इंग्लैण्ड की तरह भारत में भी इसे अनिवार्य

कर देने की मांग की। उन्होंने शिक्षा विभाग की रिपोर्टों (रिटर्न) में पिछले तीन-चार सालों से विद्यार्थियों की जाति का जिक्र नहीं होने की शिकायत की। डोम-मेहतर जैसी जातियां सरकारी स्कूलों में बहुत कम हैं और मुसलमान लोग सरकारी स्कूलों की शिक्षा से नफरत करते हैं (जो अंशतः सत्य था), यह कहने के साथ-साथ उन्होंने यह भी माना कि गांवों में ऊंची जातियों के हिन्दू जमींदार अपनी गरीब रैयत और शूद्र-अछूत जातियों के बच्चों को पढ़ने नहीं देते ताकि उनके अज्ञान से फायदा उठाया जा सके। भारतेन्दु उदारतापूर्वक कहते हैं कि ऐसे मामले कम हैं। भारतेन्दु के बयान से पता चलता है कि उस समय युक्त प्रांत के स्कूलों में नागरी लिपि के अलावा कैथी या महाजनी लिपि भी चलती थी। भारतेन्दु ने सरकार के एजूकेशन बोर्ड की काफी आलोचना की। उन्होंने कहा कि इस बोर्ड के सदस्यों को – जो भद्रवर्ग के लोग होते थे – आमतौर पर शिक्षा संबंधी मामलों का कोई अनुभव नहीं है और न ही उनके पास इस काम के लिए वक्त है। बोर्ड का अध्यक्ष कायदे के मुताबिक मजिस्ट्रेट या उसके बराबर का कोई अफसर होता है जिसपर पहले से ही काम का इतना बोझ रहता है कि वह चाहकर भी शिक्षा की निगरानी के लिए वक्त नहीं निकाल सकता। भारतेन्दु के मुताबिक गांवों में शिक्षक का ओहदा इतना असरदार नहीं था जितना पटवारी या मुख्तार का, भले ही शिक्षक को तनख्वाह इनसे ज्यादा मिलती हो। देहात में चलने वाले पाठ्यक्रम को आमतौर पर सही बतलाते हुए भारतेन्दु ने उसमें रामायण के कुछ हिस्से, भारत की खेतिहर प्रणाली, नैतिकता और चरित्र संबंधी कुछ पाठ, लगान – मालगुजारी के नियम, पटवारी के कागजों का ब्यौरा और जिले के नक्शे को भी शामिल कर लेने का सुझाव दिया ताकि देहातियों की जरूरतें इस शिक्षा से पूरी हो सकें। इसी तरह कुछ चीजें शहरी स्कूलों के पाठ्यक्रम में भी जोड़ी जा सकती है। इन चीजों का भारतेन्दु ने खुलासा नहीं किया।

प्रांत की देशी भाषा कौन-सी है – यह पूछे जाने पर भारतेन्दु ने कहा कि यह कहना मुश्किल है कि इस प्रांत की देशी भाषा किसे माना जाए क्योंकि यहाँ कई बोलियाँ चलती हैं। बनारस शहर तक में कोई एक बोली नहीं चलती। इसलिए प्रांत की भाषा का मतलब सिर्फ उसी भाषा से लिया जाए जिसे सभी वर्गों के लोग शहरों में बोलते हों, खासकर सार्वजनिक जगहों पर बोलते हों, जैसे शाही दरबार में, अदालतों और आम सभाओं वगैरह में और जिस भाषा में किताबें लिखी जाती हों। इस नज़र से युक्त प्रांत की भाषा एक तो ब्रजभाषा कही जा सकती है, दूसरे खड़ी बोली। हिन्दी और उर्दू खड़ी बोली के ही दो साहित्यिक रूप हैं। सैय्यद अहमद ने हिन्दी को **गंवारू** बोली कहा था, इसका जिक्र करते हुए भारतेन्दु ने पलटकर उर्दू को **वेश्याओं और नाचने-गानेवालियों की जुबान** बतलाया। भारतेन्दु ने उर्दू भाषा की फारसी लिपि के दोष गिनाते हुए नागरी लिपि को अदालतों में लागू करने और दफ्तरों-अदालतों में उर्दू की जगह हिन्दी भाषा को चलाने की मांग रखी तथा इसके पक्ष में कई तर्क दिए। भारतेन्दु के मुताबिक उस वक्त सार्वजनिक जीवन के क्षेत्रों में, जैसे खरीद-बिक्री संबंधी नोटिसों और मनोरंजन कार्यक्रम के इश्तहारों में हिन्दी का इस्तेमाल होना शुरू हो गया था। भारतेन्दु ने मौलवियों की कठिन उर्दू और पंडितों की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का विरोध करते हुए माना कि हिन्दी भाषा से सभी फारसी शब्दों को हटाने की मांग गलत है।

भारतेन्दु ने प्राइमरी शिक्षा के लिए देहातियों से फीस न लेने को कहा क्योंकि सरकारी शिक्षा के लिए वे पहले से ही स्थानीय कर (सेस) दे रहे थे। लेकिन शहरी कॉलेजों में पहले

से ही महंगी फीस (आर्ट क्लास तीन रु., बी.ए. पांच रु. और इंटर डेढ़ रु.) को कुछ और बढ़ाने के लिए भारतेन्दु राजी हो गए। उन्होंने युक्त प्रांत के गाँवों में जगह-जगह स्कूल खुलवाने में राजा शिवप्रसाद की भूमिका की सराहना की। सरकारी स्कूलों–कॉलेजों से पढ़कर निकले शिक्षित बेरोजगारों का जिक्र करते हुए उन्होंने सरकारी नौकरियों में भर्ती के प्रचलित तौर-तरीकों की निंदा की जिसके तहत दफ्तरों में पहले से लगे लोगों के भाई-भतीजों और बेटे-दामादों को चाहे वे कितने ही नालायक क्यों न हों — नौकरी पर रख लिया जाता था। (इस प्रथा का सबसे ज्यादा फायदा उस वक्त यू.पी. के भद्रवर्गीय मुसलमान उठा रहे थे) इसका विरोध करते हुए भारतेन्दु ने सरकारी शिक्षा संस्थाओं से पढ़कर निकले लड़कों को (जो ज्यादातर हिन्दू थे) सरकारी नौकरियाँ देने की मांग की।

भारतेन्दु ने अपने वक्त शिक्षा-विभाग में बड़े पैमाने पर हुई छंटनी और कई स्कूलों को बन्द किए जाने पर अफसोस जाहिर किया। सरकार ने ऐसा वित्तीय साधनों की कमी के कारण किया था। सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक पश्चिमोत्तर प्रांत के लोगों ने शिक्षा में खास दिलचस्पी नहीं ली थी। भारतेन्दु ने जोर देकर कहा कि लोग दिलचस्पी ले रहे हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि स्कूल की एक क्लास में ज्यादा से ज्यादा २५ से ३० विद्यार्थी और कॉलेज की एक क्लास में १० से १५ विद्यार्थी होने चाहिए। किसी वजह से स्कूल से निकाल दिए गए लड़कों को दूसरे स्कूलों में दाखिला लेने से रोका न जाए क्योंकि कई बार हेडमास्टर मामूली गलतियों पर भी लड़कों को कड़ी सज़ा दे देते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि पश्चिमोत्तर प्रांत के कॉलेजों में बी.ए. की क्लास में पढ़ाने के लिए यूरोपीय प्रोफेसरों को तुरंत बहाल करना चाहिए क्योंकि उच्च गणित, भौतिक विज्ञान, अंगरेजी या दर्शनशास्त्र पढ़ाने के लिए लायक देशी शिक्षक नहीं मिलते।

शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण का सवाल : पृष्ठभूमि

अपने बयान में भारतेन्दु ने औपनिवेशिक राज्य द्वारा शिक्षा के नियंत्रण और संचालन पर जो विचार व्यक्त किए, वे गौरतलब हैं। १८८० के दशक में अंगरेज सरकार चाह रही थी कि शिक्षा संस्थाओं पर वह अपना नियंत्रण कुछ कम करके उनके प्रबंध और संचालन की जिम्मेदारी कमोबेश देशी लोगों के हाथों में सौंप दें। ऊपरी तौर पर आकर्षक दिखने वाली उसकी इस इच्छा के पीछे लोकतांत्रिक भावना या स्वायत्तता देने की मंशा उतनी नहीं थी जितनी कि वित्तीय साधनों की कमी थी। दरअसल भारत में औपनिवेशिक शासन ने समय-समय पर अपने नियंत्रण को ढीला करके भारतीयों को कई बार शासन में हिस्सा लेने के जो सीमित अधिकार दिए, उनके पीछे अक्सर महत्वपूर्ण कारण राजनीतिक तौर पर कुछ भारतीयों को अपना जूनियर पार्टनर बनाने के अलावा खास तौर पर आर्थिक मजबूरियां रही थीं। जैसे १८३० के दशक में भारत में अंगरेजी शिक्षा देने के फैसले के पीछे राजनीतिक लक्ष्य के अलावा एक बड़ा कारण यह था कि भारत में शासन चलाने के लिए सभी पदों पर इंग्लैण्ड से अंगरेजों को बुलाना महंगा पड़ता था और उन्हें तनख्वाह भी ज्यादा देनी पड़ती थी। भारतीयों को प्रशासनिक पदों पर कम खर्च में बहाल किया जा सकता था जिसके लिए उन्हें अंगरेजी शिक्षा देने की जरूरत आन पड़ी। (पृ.८५, **एस्सेज़ इन बंगाल रेनॉसा,** अरविंद पोद्दार) अपने वित्तीय बोझ को कम करने के इरादे से ही संवैधानिक सुधारों के तहत केंद्र के अधीन वाले कई विभाग

पहले प्रांतीय सरकारों को सौंप दिए गए थे और बाद में १८८२ में जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं में भारतीयों को सीधे या चुनाव के जरिये प्रतिनिधित्व देकर स्थानीय विकास और निर्माण से संबंधित कई जिम्मेदारियां सौंप दी गईं जिनके लिए इन संस्थाओं को स्थानीय तौर पर आर्थिक संसाधनों को जुटाना था। (वित्तीय साधनों की कमी के विवरण के लिए देखें, फ्रांसिस रोबिन्सन की किताब **मुस्लिम सेपरेटिज्म इन यू.पी.**) औपनिवेशिक सरकार की ऐसी मजबूरियों के राजनीतिक नतीजे भी निकले जिनका फायदा भारतीय राजनीतिज्ञों ने पहले भी और बाद में भी – अपने हक में हमेशा उठाया। वित्तीय साधनों की कमी के कारण ही हंटर आयोग की नियुक्ति के समय सरकार शिक्षा संस्थाओं पर नियंत्रण कम करके उन्हें किसी हद तक और किसी रूप में देशी लोगों या उनकी संस्थाओं को सौंपने का विचार कर रही थी। यह तथ्य रिपोर्ट के **इंट्रोडक्शन** के अलावा उन सवालों से भी उभर आता है जिनकी सूची हंटर आयोग ने भारतेन्दु को दी। सवालों की उस सूची से पता चलता है कि देशी लोगों को शिक्षा संस्थाओं का प्रबंध सौंपने के तहत कुछ मामलों में वह स्कूल-कालेजों का पूरा खर्च उठाने की जगह उन्हें कुछ अनुदान देने भर की जिम्मेदारी रखना चाहती थी। सरकार के मन में यह बात भी थी कि स्थानीय विकास और निर्माण के कुछ दूसरे कामों की तरह क्या शिक्षा संस्थाओं को भी जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं के अधीन किया जा सकता है ताकि उनका खर्च स्थानीय साधनों से चलाया जा सके? वह यह भी पता लगाना चाहती थी कि अंगरेजी शासन से पहले की या शासन से बाहर चलने वाली देशी शिक्षा संस्थाओं को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग बनाया जा सकता है या नहीं? अगर यह मुमकिन हो तो क्या इसके लिए उसे कुछ खर्च भी करना पड़ेगा? सवालों की सूची से कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि दूसरे उद्देश्यों के अलावा सरकार शिक्षा के क्षेत्र में अपना आर्थिक बोझ कम करने के लिए देशी लोगों की स्थानीय पहलकदमी को बढ़ावा देने की संभावना पर प्रभावशाली हिन्दुस्तानियों की राय जानना चाहती थी। हंटर आयोग की नियुक्ति इन्हीं उद्देश्यों के लिए की गई थी।

भारतेन्दु के जवाब

आयोग ने अपने सवाल नं. ४ में पश्चिमोत्तर प्रांत की देशी शिक्षा संस्थाओं के बारे में पूछा। जवाब में भारतेन्दु ने अपने वक्त के सात किस्मों के देशी स्कूलों के बारे में बताया जिनकी कुल संख्या प्रांत में सभी सरकारी स्कूलों से कहीं ज्यादा थी। (१) चटसाल जहां मुख्यतः लाभ-हानि का हिसाब करना सिखाया जाता था और नागरी के अलावा कैथी या महाजनी लिपि भी सिखाई जाती थी। (२) संस्कृत स्कूल जहां पंडित दर्शन, तर्क, ज्योतिष तथा व्याकरण, न्याय और साहित्य पढ़ाते थे। (३) धार्मिक स्कूल जहाँ वेद, मीमांसा और वेदांत आदि पढ़ाए जाते थे। (४) बही-खाता रखने और महाजनी सिखाने के स्कूल जिन्हें मुनीम चलाते थे (५) मकतब जहाँ मौलवी साहब हिन्दू और मुसलमान बच्चों को पुराने ढंग से फारसी सिखाते थे जिसमें कुछ किताबें रटाई जाती थीं। (६) अरबी स्कूल जहां विद्वान मौलवी अरबी साहित्य, अरबी व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, चिकित्सा पद्धति और धर्मशास्त्र पढ़ाते थे। इन स्कूलों में ज्यादातर मुसलमान बच्चे मकतब से फारसी की शिक्षा पूरी करने के बाद आते थे। (७) कुरआन स्कूल जो आभिजात्य मुस्लिम परिवारों के द्वारा चलाए जाते थे। इनमें मस्जिद का मुल्ला बच्चों को कुरआन की आयतें याद कराता और नमाज पढ़ना सिखाता। भारतेन्दु ने बताया कि इन

सभी स्कूलों में फीस नहीं लगती (पर यह नहीं बताया कि पढ़ने वाले बच्चों के अभिभावक या पूरा समाज मिलकर शिक्षक और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए अनाज, दूसरी वस्तुएं अथवा खर्च देते थे)। उन्होंने कहा कि इन स्कूलों में सरकारी स्कूलों जैसा चुस्त अनुशासन नहीं होता। गांव से आने वाले शिक्षक अपनी खेती या दूसरा रोजगार भी करते रहते और वक्त निकाल कर पढ़ाने भी आ जाते। ये शिक्षक खुद बहुत शिक्षित नहीं होते, हालांकि मकतब और अरबी स्कूलों के मौलवी विद्वान होते हैं। ये स्कूल ज्यादातर शहरों में थे, गांवों में कम थे।

आयोग ने पूछा था कि क्या इन देशी स्कूलों को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का अंग बनाया जा सकता है? भारतेन्दु ने इन परंपरागत स्कूलों के प्रति जरा-भी सहानुभूति नहीं दिखलाई — 'मैं नहीं समझता कि इन्हें किसी भी हाल में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग बनाया जा सकता है।' I do not think such schools can be turned to any account as a part of the system of national education. (पृ. १४) इन स्कूलों को कोई सरकारी मदद नहीं मिलती थी। आयोग ने पूछा कि क्या इन्हें सरकारी मदद दी जाए? भारतेन्दु ने विरोध करते हुए कहा– 'मेरा विचार है कि इन्हें सरकारी मदद देना सार्वजनिक धन का दुरुपयोग होगा और सरकारी हस्तक्षेप से पब्लिक को कोई फायदा नहीं होगा।' (पृ. १५) अपने विचार के समर्थन में भारतेन्दु ने डायरेक्टर, पब्लिक इंस्ट्रक्शन, के एक पत्र को उद्धृत किया जिसमें इन स्कूलों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए कहा गया था कि इन स्कूलों में सुधार लाने की गुंजाइश बहुत कम है।

आयोग ने पांचवें सवाल में पूछा कि लड़कों को घर में शिक्षित करने के बारे में आपके अनुभव और विचार क्या हैं? भारतेन्दु ने कहा कि घर में शिक्षा दिए जाने की उपयोगिता और मूल्य बहुत कम है क्योंकि ट्यूटर रखकर घर में जो शिक्षा दी जाती है, वह लिबरल (आधुनिक) किस्म की नहीं होती और न ही वह शिक्षा के यूरोपीय सिद्धांतों के मुताबिक दी जाती है...The instruction is not liberal in its character, nor it is imparted on European principles. (पृ. १६)

उन्होंने कहा कि मेरा अपना ज्ञान और अनुभव भी यही कहता है कि घर में शिक्षित हुए लड़के सरकारी स्कूलों में शिक्षित हुए लड़कों का मुकाबला नहीं कर सकते। अपने बयान के समर्थन में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के परीक्षाफल को पेश किया जिसमें सरकारी स्कूलों से निकले विद्यार्थियों के अंक ज्यादा थे।

छठा सवाल देहातों में शिक्षा के लिए स्थानीय पहलकदमी के बारे में था। आयोग ने पूछा कि देहाती इलाकों में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए सरकार भारतीयों के अपने प्रयत्नों पर — सरकारी अनुदान के साथ या उसके बिना भी किस हद तक निर्भर करे? भारतेन्दु — वह समय अभी नहीं आया है कि सरकार देहाती इलाकों में प्राथमिक शिक्षा देने के लिए हिन्दुस्तानियों के निजी प्रयत्नों पर निर्भर करे। सरकार अगर शिक्षा देने से पीछे हट गई — चाहे अप्रत्यक्ष रूप से ही सही—तो शिक्षा के काम को भारी नुकसान पहुंचेगा। इस देश के लोग लम्बे समय से हिन्दू राजाओं और मुसलमान सम्राटों के निरंकुश शासन में रहते आए हैं जिससे गुलामी और पर-निर्भरता उनके स्वभाव में बस गई है। अंगरेज सरकार के उपकारी शासन से

उनके अंदर स्वतंत्र विचार और आजादी का भाव पैदा होने में अभी बहुत समय लगेगा। It will take very long time before the benign rule of the english Government can inspire. There nature with free thought of independence. (पृ. १७)

भारतेन्दु ने कहा कि –'भारत में सभ्यता का युग अभी शुरू ही हुआ है', लिहाजा शिक्षा के क्षेत्र में सरकार द्वारा हाथ खींच लेना अभी सही नहीं होगा; खासकर जब हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड और दूसरे यूरोपीय देशों में–जो सभ्यता के हर क्षेत्र में हमसे बहुत आगे हैं– प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य है। अगर हम शिक्षा विभाग के रिटर्न को देखें तो यह जाहिर हो जाएगा कि इस देश ने शिक्षा के मामले में सरकारी हस्तक्षेप से कितनी प्रगति की है । If we turn to the returns of the education Department, we shall be able to see what progress has been made by this country in education by direct Government interference. (पृ. १७)

हिन्दुस्तानियों की मनोवृत्ति बतलाते हुए भारतेन्दु ने कहा कि इस देश की जनता हालांकि प्राइमरी शिक्षा के लिए कर देती है, लेकिन उसे यह भी पता नहीं रहता कि उसके गांव में जो स्कूल है, वह अब भी चलता है या बन्द हो चुका है। ये लोग शिक्षा पर कर अपनी भलाई के ख्याल से नहीं देते बल्कि इसलिए देते हैं कि इसे सरकार ने मांगा है। 'सिर्फ सीधे सरकारी हस्तक्षेप से ही इस देश की उन्नति हो सकती है।' It is only by direct Government interference alon that this country can prosper. (पृ. १७)

आठवें सवाल में पूछा गया कि किस किस्म के स्कूलों को सहायता और प्रबंध के लिए नगरपालिकाओं के अधीन कर देना चाहिए? भारतेन्दु का जवाब गौरतलब है, क्योंकि आज भी बहुत से शहरों में फटेहाल घरों और निचली जातियों के गरीब बच्चे जिन घटिया स्कूलों में पढ़ते हैं, सिर्फ वही स्कूल नगरपालिकाओं के जिम्मे है। यही हालत भारतेन्दु के वक्त में भी थी। भारतेन्दु ने यथास्थिति कायम रखने को रहा। पर दूसरे स्कूलों को जहाँ भद्रवर्ग के बच्चे पढ़ते हों – नगरपालिका के अधीन करने से मना किया। The municipal committee have made in their hands the management of the free or ragged schools which were established some years ago in cities and large towns for education of the children of the lower classes. These schools they may retain, but I think it would be mistake to take over to them any other school for management. (पृ. १६)

भारतेन्दु ने तर्क दिया कि नगरपालिका के पास दूसरे स्कूलों को चलाने लायक पैसे नहीं होंगे।

इसके बाद आयोग ने अपने दिल का सवाल पूछा – क्या आप कोई ऐसी स्थिति सोचते हैं जिसमें सरकार को उच्च शिक्षा का कोई संस्थान बंद करना पड़े तो शिक्षा के उद्देश्यों को हानि पहुंचाए बिना कोई प्राइवेट संस्था सरकारी अनुदान के साथ या उसके बिना भी उसे अपने हाथों में ले ले?

सवाल जितना खुलकर पूछा गया, उतना ही खुलकर भारतेन्दु ने जवाब भी दिया – हिन्दुस्तान की जनता हमेशा बादशाही हुकूमत में रही है। उसमें मूर्तिपूजा की ऐसी प्रवृत्ति घर

कर चुकी है कि वह अपने इर्द-गिर्द हमेशा कोई ऐसी सत्ता देखना चाहती है जिसकी वह पूजा कर सके। उन्हें एक राजा, शासक या मालिक की जरूरत पड़ती है जिसके हुक्म को वह हमेशा विना कोई सवाल किए, बजा लाए। हमारी भाषा में **पब्लिक** जैसा कोई शब्द नहीं है। हम इसकी जगह **सरकार** शब्द बोलते हैं। हमारे पास नेशनलिज्म या पैट्रियॉटिज्म के प्रतिरूप या पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'हमसे अपने वच्चों के लिए ऊँची शिक्षा देना तो दूर रहा, प्राइमरी शिक्षा देने के लिए कहना भी एक गलती होगी। मेरी समझ में भारत ने सभ्यता में वहुत कम उन्नति की है और वह अपने वच्चों की शिक्षा की जिम्मेदारी पूरी करने लायक अभी नहीं वन सका है।' We have no equivalents for 'nationality' or 'patriotism'. To expect us to provide even primary education, to say nothing of high education, to our progeny, is a mistake. Hither to, atleast as I think, India has made but little progress in civilization, and is not yet prepared to take upon herself the responsible duty of providing eduction to her children. (पृ. ३२)

भारतेन्दु ने शिक्षा संस्थाओं को निजी हाथों में सौंपने का विरोध करते हुए कहा कि विश्वविद्यालय और शिक्षा विभाग की परीक्षाओं के नतीजों में हम आए दिन देखते हैं कि सरकारी स्कूलों में शिक्षित हुए विद्यार्थी हमेशा आगे रहते हैं। प्राइवेट स्कूलों में शिक्षित होने वाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम है। प्राइवेट स्कूलों की शिक्षा का स्तर सरकारी स्कूलों के मुकाबले घटिया होता है। इस देश के लोगों को, खासकर इन प्रांतों (अवध और पश्चिमोत्तर प्रांत) के लोगों को शिक्षा के प्रसार का काम सौंपना, समय से पहले कदम उठाना है जिसका नतीजा वुरा निकलेगा। To entrust to the people of this country, and especially in these provinces, the task of diffusion of education, would be pre-mature measure sure to end in evil result. (पृ. ३२)

अपने जवाव में भारतेन्दु ने भारत में अंगरेजी राज की प्रगतिशील भूमिका पर जोर देते हुए लिखा – अंगरेज सरकार का वरदान रूपी शासन और उसके द्वारा संचालित सुंदर शिक्षा प्रणाली समय के साथ-साथ भारत के नौनिहालों को आत्मनिर्भरता, स्वतंत्रता और सभ्यता के सांचे में ढालती जाएगी। The blessed rule of english Government and a salubrious system of education administered by it, will in course of time cast the children of India in a mould of civilization, freedom and self-help. (पृ. ३२)

फिलहाल भारत के ये नौनिहाल अपने पालन-पोषण के लिए अपने अभिभावक व्रिटिश सरकार पर निर्भर करते हैं। व्रिटिश शासन के अभिभावकत्व को काफी नरम वताते हुए भारतेन्दु ने भारत की उन उपद्रवी संतानों की निंदा की जो इस अभिभावकत्व के जुए को वहुत जल्दी उतार फेंकने को आतुर हो सकते हैं। लेकिन जव वे पर्याप्त समझदारी हासिल कर लेंगे, तव उन्हें जरूर अपनी गलती पर पछतावा होगा। Some of India's truant children may wish to throw off the yoke of the mild parental sway too early, but when they acquire sufficient maturity of understanding, they will have reason to regret their folly. (पृ. वही)।

(भारत की ये उपद्रवी संतानें कौन थीं?)

आयोग ने पूछा (प्रश्न-१७) कि क्या आपके प्रांत में ऐसे समर्थ लोग नहीं हैं जो संघबद्ध होकर, सरकारी अनुदान लेकर खुद स्कूल-कॉलेजों की स्थापना करें? भारतेन्दु– प्रांत में ऐसा कोई समर्थ व्यक्ति नहीं है। लोग तो अपने घरों के झगड़े तक खुद निपटा नहीं पाते, वे देश का शासन क्या चलाएंगे?

I cannot for a moment think that it can be possible for natives to combine together in a body to partake in the administration of the country. (पृ. ३३)

आयोग ने एक बार फिर से पूछा कि अगर सरकार समयबद्ध तरीके से किसी उच्च शिक्षा संस्था से अलग होने का फैसला करे तो अंतरिम काल के लिए निजी तौर पर क्या प्रयत्न हो सकते हैं जिससे वह शिक्षा संस्था मजबूती से खड़ी रह सके?

जवाब में भारतेन्दु ने अपने प्रांत में बहुत-सी बन्द हो गई शिक्षा संस्थाओं का जिक्र करने के बाद अंत में कहा कि पहले सरकार हमें अगली आधी सदी तक शिक्षा देती रहे ताकि हममें कुछ समझदारी आ जाए और हम खुद अपने बारे में फैसला करने लायक बन जाएँ — उसके बाद ही हमसे उपरोक्त सवाल किए जाए। (पृ. ३५)

शिक्षा के प्रबंध में स्थानीय पहलकदमी का जायजा लेने के वास्ते आयोग ने एक बार फिर से पूछा कि अगर सरकार स्कूल-कालेजों के सीधे प्रबंध से काफी हद तक हट जाए तो इसका शिक्षा के प्रसार पर क्या असर पड़ेगा? स्थानीय उद्देश्यों के लिए स्थानीय तौर पर संघबद्ध होने तथा स्थानीय पहलकदमी पर निर्भर करने की भावना के विकास पर क्या असर पड़ेगा?

जवाब में भारतेन्दु ने अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक दोहराया : भारत में आज तक पब्लिक ने कुछ नहीं किया है। मैंने पहले भी कहा कि हमारी भाषा में पब्लिक जैसा कोई शब्द नहीं है। सरकारी हस्तक्षेप उठ जाने से शिक्षा के काम की मौत ही हो जाएगी। (पृ. ५१) निराश स्वर में भारतेन्दु ने कहा कि जब कुछ समय पहले बरेली कॉलेज बंद किया गया और सौ से भी ज्यादा देशी भाषा के मिडल स्कूल और इतने ही लड़कियों के स्कूल भी बन्द कर दिए गए, तब हमारे देशी लोगों ने इन संस्थाओं को जिन्दा रखने के लिए क्या किया?

(एक दूसरे जवाब में भारतेन्दु ने कहा कि अगर सरकार स्कूल और कॉलेजों के प्रबंध से खुद को अलग कर लेगी तो हम देशी लोग वही करेंगे जो हमने औरंगजेब द्वारा विश्वनाथ जी का मंदिर तोड़ने पर किया था या मुहम्मद गजनी द्वारा सोमनाथ का मंदिर लूटने पर किया था।) (पृ. ३५)।

स्थानीय उद्देश्यों के लिए संघबद्ध होने और स्थानीय पहलकदमी की भावना विकसित करने के बारे में भारतेन्दु ने कहा कि स्थानीय जरूरतों के लिए एकजुट होने की या स्थानीय आत्म-निर्भरता की भावना की इस वक्त भारत में कोई उम्मीद नहीं की जा सकती। देशी लोगों से इस दिशा में कदम उठाने की उम्मीद करना भयानक भूल होगी। No growth of spirit of reliance upon local exertions and combination for local purpose can be expected at present in India. It will be a blunder to expect natives to take any steps in this direction. (पृ.-५१)

सवाल नं.-३८ के जवाब में भारतेन्दु ने कहा कि स्कूल कॉलेजों से सरकारी प्रबंध उठ जाने से शिक्षा का स्तर नीचे गिर जाएगा और देशी लोगों में इस गिरावट को रोकने की क्षमता

सिर्फ तभी आ सकती है जब किसी तरह से हमारे अंदर भी राष्ट्रीयता (नेशनलिटी) की वही भावना पैदा हो जाए जो यूरोपीय लोगों में है। (पृ. वही)

आयोग ने पूछा (प्रश्न-३५) कि सरकारी शिक्षा विभाग की मौजूदा प्रणाली या मौजूदा पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था से निजी शिक्षा संस्थाओं के स्वतंत्र विकास में किसी तरह की अनावश्यक बाधा तो नहीं पड़ती? भारतेन्दु का जवाब -- मैं नहीं सोचता की शिक्षा विभाग की मौजूदा व्यवस्था निजी संस्थाओं के विकास में किसी भी तरह से बाधक हैं। इसके उल्टे, वह उनके लिए एक अच्छा मॉडल पेश करती है। (पृ.५०)

आयोग ने साफ शब्दों में पूछा (प्रश्न-३६) कि भारत में शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली में, आपके विचार से, राज्य की और दूसरी एजेन्सियों की क्या भूमिका हो सकती है? इस बारे में बहुत-बार राय जाहिर कर चुके भारतेन्दु ने मुख्तसर-सा जवाब दिया – स्कूलों का प्रबंध और देखभाल पूरी तरह से सरकार के हाथों में ही रहना चाहिए। सरकारी अफसर जो कुछ करते हैं, देशी लोग सिर्फ उस पर निगरानी रखें, उसकी समीक्षा और आलोचना करें और उसमें सुधार के उपाय बतलाएं। The management and supervision of schools should rest entirely in the hands of the Government. The public should be left to watch, review and criticise what is done by the Government officials and suggests means of improvement. (पृ. ५१)

आयोग ने एक सवाल (प्रश्न-६०) शिक्षा में धार्मिक तटस्थता के सिलसिले में पूछा। क्या यह जरूरी नहीं कि धार्मिक तटस्थता के सिद्धान्त को सच्चे अर्थों में लागू करने के लिए सरकार स्कूल-कालेजों के सीधे प्रबंध से हट जाए? भारतेन्दु-सरकार के सीधे हस्तक्षेप के कारण ही आज धार्मिक तटस्थता के सिद्धांत का कड़ाई से पालन हो रहा है। अगर सरकार हट जाएगी तो नतीजा उल्टा निकलेगा और डर है कि मिशनरियाँ छा जाएंगी।

एक सवाल के जवाब में भारतेन्दु ने बी.ए. की कक्षाओं में पढ़ाने के लिए यूरोपीय प्रोफेसरों को बहाल करने के लिए कहा। जब उनसे पूछा गया कि क्या यूरोपीय प्रोफेसर देशी प्रबंध के अधीन पढ़ाएंगे? तो भारतेन्दु ने कहा कि सर सैयद अहमद खां को छोड़ दें तो कोई देशी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो यूरोपीय प्रोफेसरों को अपने प्रबंध के अधीन रख सकें। अगर कोई देशी अपने हाथ में प्रबंध ले भी ले, तो शायद ही कोई यूरोपीय प्रोफेसर उसके अधीन पढ़ाना चाहेगा – जब तक कि उसका वेतन बहुत ज्यादा न हो।(पृ. ६४) क्या देशी लोगों का प्रबंध सरकारी प्रबंध का मुकाबला कर सकता है? भारतेन्दु ने कहा – देशी लोगों के प्रबंध में चलने वाले स्कूल कभी भी सरकारी प्रबंध वाले स्कूलों का मुकाबला नहीं कर सकते। The schools under natives management can never be expected to complete with those schools under the management of Government. (पृ.६४)

१६वीं सदी में नवजागरण की चेतना फैलाने में शिक्षा की भूमिका सबसे बुनियादी थी। उस शिक्षा पर **पूरी तरह से** औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण की भारतेन्दु की वकालत हैरत में डालती है। हिन्दी के कुछ आलोचकों ने हिन्दी भाषी समाज के नवजागरण के नेता के रूप में भारतेन्दु की जो भव्य छवि बना रखी है, उससे इन विचारों का मेल नहीं बैठता। आयोग के सामने शिक्षा व्यवस्था संवंधी अपने विचार काफी विस्तार के साथ भारतेन्दु ने रखे हैं। यह

चलते ढंग से दी गई कोई टिप्पणी नहीं थी जिसे आसानी से टाल दिया जाए। भारतेन्दु के इन विचारों की क्या व्याख्या हो सकती है?

बेशक, अंगरेजी राज की शिक्षा प्रणाली में भारतेन्दु की यह अगाध और सम्पूर्ण आस्था १९वीं सदी के अंगरेजी शिक्षा प्राप्त भद्र वर्ग के विचारों और हितों के बिल्कुल अनुरूप थी जो भारत में सभ्यता, ज्ञान और स्वातंत्र्य भावना लाने में अंगरेजी शिक्षा की सबसे बड़ी भूमिका मानता था। साथ ही भारतेन्दु के इन विचारों से हिन्दी-उर्दू प्रदेश के हिन्दी भाषी समाज की असलियत का भी पता चलता है जो नवजागरण की चेतना के लिहाज से १८८० के दशक में भी इतना पिछड़ा हुआ था कि भारतेन्दु जैसे लेखक भी उसके जागरण में अंगरेजी शासन द्वारा नियंत्रित-संचालित शिक्षा की ऐतिहासिक भूमिका को कम से कम अगले पचास सालों तक अनिवार्य मानते थे। यहाँ तक तो बात अपने ऐतिहासिक संदर्भ में और अंगरेजी शिक्षा प्राप्त भद्रवर्गीय दृष्टिकोण के संदर्भ में -- समझ में आती है। इसके बाद भी जो समझ में नहीं आता, वह भारतेन्दु द्वारा अंगरेजी शासन से नियंत्रित-संचालित शिक्षाप्रणाली को नवजागरण लाने वाली शिक्षा की एकमात्र एजेन्सी मानना है। भारतेन्दु ने न सिर्फ देशी शिक्षा परंपरा के सभी तरह के स्कूलों को एक ही बार में खारिज कर दिया, बल्कि औपनिवेशिक सरकार के अलावा भारतीयों के किसी भी तरह के शिक्षा-संबंधी निजी प्रयत्नों का विरोध किया – ये प्रयत्न चाहे सरकारी स्कूलों को माडल मानकर ही क्यों न चलें। यह एक आश्चर्यजनक बात थी क्योंकि १९वीं सदी के सभी समाज सुधारक और देशी शिक्षाविद् भारतीय नवजागरण में यूरोप के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा प्रणाली की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हुए भी सिर्फ सरकारी शिक्षा के भरोसे कभी नहीं रहे। उन्होंने शुरू से –१८८० के बहुत पहले से – शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी प्रयासों के अलावा निजी प्रयत्नों को महत्व दिया था। इन्हीं निजी प्रयत्नों से भारत में शिक्षा प्रणाली के उन तत्वों की नींव पड़ी थी जिनके आधार पर आगे चलकर उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की अवधारणा विकसित हुई – भले ही यह अवधारणा कमजोर और अपर्याप्त रही हो। नवजागरण के नेताओं ने सरकार द्वारा दी जाने वाली पश्चिमी ढंग की शिक्षा को अपनाने के बावजूद भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति की जरूरतों के लिहाज से, इसके सकारात्मक पक्षों को बचाने और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से, शिक्षा संस्थाओं पर भारतीयों के नियंत्रण और प्रबंध पर हमेशा जोर दिया था।

नवजागरण में शिक्षा के निजी प्रयत्न

भारतेन्दु का यह कहना आश्चर्यजनक था कि भारत में पब्लिक जैसी कोई चीज नहीं है और भारतीय लोग अपने बच्चों को प्राइमरी शिक्षा भी देने लायक नहीं हुए हैं। किसी भी लिहाज से यह हकीकत नहीं थी। भारतेन्दु के सामने दयानंद सरस्वती ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के आधार पर अंगरेजी शिक्षा प्रणाली से अलग देशी शिक्षा प्रणाली के विचार और सिद्धांत पेश किए थे। हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं का विरोध करते हुए उन्होंने स्त्रियों और शूद्रों-दलितों समेत समाज के सभी वर्गों को शिक्षित करने के आन्दोलन को जन्म दिया था। एक देशी शिक्षाविद की तरह उन्होंने शिक्षा के पठन-पाठन की विधि, परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रम तक पर विचार किया। वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विरोधी नहीं थे, पर उनकी शिक्षा प्रणाली पुनरुत्थानवादी थी। **आर्य समाज** ने उस प्रणाली का पूरी

तरह पालन कभी नहीं किया, गुरुकुलों में भी नहीं। लेकिन उत्तर भारत में शिक्षा के क्षेत्र में दयानंद का असली ऐतिहासिक महत्व प्राचीन शिक्षा पद्धति के उद्धार में नहीं वल्कि औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण से मुक्त होकर शिक्षा के क्षेत्र में समाज को आत्मनिर्भर बनाने की प्रेरणा देने में था। भारतेन्दु के उल्टे उनका दृढ़ विश्वास था कि अपने बच्चों की सही शिक्षा का प्रवंध हमें खुद करना चाहिए, न कि औपनिवेशिक राज्य पर छोड़ देना चाहिए। **आर्य समाज** ने अपने अनुभवों से समझ लिया था कि अपनी विचारधारा और मूल्यों के अनुरूप समाज बनाने के लिए शिक्षा संस्थाओं को अपना कार्यसाधन बनाना जरूरी है। जव भारतेन्दु हंटर आयोग से शिक्षा के निजी प्रयत्नों के प्रति विरोध प्रकट कर रहे थे, उस समय मई, १८८२ की **आर्य मैगजीन** पत्रिका में निजी प्रयत्नों से ऐसी शिक्षा संस्था खोलने का संकल्प लिया जा रहा था जिसमें स्कूल के भारतीय वातावरण में अंगरेजी भाषा और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई के साथ-साथ अपने धर्म और संस्कृति की शिक्षा भी अनिवार्य रूप से दी जाए। ऐसी संस्था पर सरकार का कोई नियंत्रण न हो। यही संकल्प आगे एंग्लो-वैदिक स्कूल-कॉलेजों के रूप में साकार हुआ। ८ नवम्बर, १८८३ को लाहौर की एक सार्वजनिक सभा में इस शिक्षा संस्था को वनाने का प्रस्ताव किया गया। जिस पब्लिक के अस्तित्व से भारतेन्दु को इनकार था, उसी पब्लिक ने कॉलेज खोलने के लिए उस सभा में उत्साह के साथ ६००० रु. दिए।

भारतेन्दु के प्रांत में और शहर में यह बात नामुमकिन थी। एंग्लो-वैदिक स्कूल और कॉलेज के लिए धन जमा करने वाली उप-समिति ने अपनी शिक्षा संस्था के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा —'हम एक ऐसी शिक्षण-संस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें वर्तमान शिक्षा पद्धति के गुणों व लाभों को कायम रखते हुए उसकी त्रुटियों को दूर कर दिया गया हो। इस शिक्षण-संस्था का मुख्य उद्‌देश्य यह होगा कि राष्ट्रभाषा और अन्य लोकभाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित कर शिक्षित वर्ग और अशिक्षित जनता के बीच के भेदों को दूर कर सबको परस्पर सम्बद्ध कर दिया जाए, प्राचीन संस्कृत के अध्ययन पर जोर देकर नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार किया जाए, अनुशासित जीवनचर्या द्वारा शक्तिमान व सही आदतों के निर्माण में सहायता की जाए, अंगरेजी साहित्य के गंभीर परिचय को प्रोत्साहित किया जाए और भौतिक व व्यावहारिक विज्ञानों के ज्ञान के प्रसार द्वारा देश की भौतिक उन्नति में सहायक हुआ जाए।' (पृ. १२६, आर्य समाज का इतिहास-३)

नवजागरण के लिए भारतेन्दु यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और अंगरेजी भाषा की शिक्षा को जितना जरूरी मानते थे, आर्य समाजी उससे कम नहीं मानते थे। आर्य समाजियों ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान पर जोर देने के बावजूद इसके लिए सिर्फ सरकारी स्कूलों को एकमात्र जरिया नहीं माना, न सरकारी स्कूलों को पूरी तरह से ठीक माना। उन्होंने भारतीय परिवेश और भारतीय संस्कृति को अपनी समझ-सही या गलत – के मुताविक अलग ढंग की शिक्षा संस्थाओं के लिए निजी प्रयत्न करना जरूरी समझा। भारतेन्दु ने अंगरेजी शिक्षा के राजनीतिक लक्ष्य पर कभी विचार नहीं किया। दरअसल १९वीं सदी के किसी भी समाज सुधारक ने इस पर विचार नहीं किया। लेकिन देहाती स्कूलों के पाठ्यक्रम में रामायण के अंश तथा कुछ और वातें जोड़ देने की सिफारिश करने के वावजूद भारतेन्दु ने शिक्षा के सवाल को भारतीय सभ्यता-संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा ही नहीं। वे यह मानकर चले कि भारत सभ्यता के मामले में वहुत पिछड़ा हुआ है और सरकारी शिक्षा अपने-आप हमारे अंदर स्वतंत्रता और राष्ट्रीयता की भावना

पैदा करती जाएगी। – भारतेन्दु ने शिक्षा के पाठ्यक्रम में देशी भाषाओं के साहित्य को जगह देने का बहुत आग्रह किया था। पर इसके लिए भी वे सरकारी स्कूल-कॉलेजों पर ही भरोसा करते थे। यह भरोसा कितना बेबुनियाद था, यह इस तथ्य से समझा जा सकता है कि युक्त प्रांत में इंटरमीडिएट की परीक्षाओं में स्वैच्छिक विषय के रूप में हिन्दी को सरकारी मान्यता १९२३ तक नहीं मिली। ये आर्यसमाजी थे जिन्होंने अपने स्कूल-कॉलेजों में संस्कृत के अलावा हिन्दी साहित्य के अध्ययन को महत्व दिया। बाद में हिन्दी साहित्य के अध्ययन का जो गढ़ बना, वह सरकार द्वारा नियंत्रित-संचालित इलाहाबाद विश्वविद्यालय नहीं, बल्कि भारतीयों के अपने प्रयत्नों से बना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय था। यह सही है कि आगे चलकर आर्यसमाजी शिक्षा संस्थाएं – चाहे गुरुकुल हों या डी.ए.वी. स्कूल-कालेज – अपने मूल सिद्धान्तों से काफी पीछे हटती गई। अंतर्वस्तु के लिहाज से डी.ए.वी. स्कूल-कॉलेजों का सरकारी स्कूल-कालेजों से ज्यादा फर्क नहीं रह गया। इसका एक खास कारण उनका शहरी मध्यवर्गीय आधार था जिसके सदस्य अपने प्राचीन आर्य गौरव से कहीं ज्यादा ऊंची सरकारी नौकरियाँ पाने के इच्छुक थे। लेकिन १९वीं सदी के आखिरी दो दशकों में उन्होंने निजी प्रयत्नों से आधुनिक शिक्षा की एक आत्म-निर्भर प्रणाली विकसित करने की जो कोशिशें की, उसके महत्व को नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता। इसके लिए उनका उत्साह, लगन और कार्यक्षमता सराहनीय थी। भारतेन्दु को देशी लोगों की प्रबंध क्षमता पर भरोसा नहीं था। आर्यसमाजी शिक्षा संस्थाओं का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उनका देशी प्रबंध ही था। १८८५ में लाहौर से बी.ए. पास करने वाले लाला हंसराज ने प्रस्तावित डी.ए.वी. स्कूल-कॉलेज के लिए अपनी सेवाएं बिना वेतन लिए देने की पेशकश की। इस स्कूल-कॉलेज की स्थापना के लिए उन राजा-महाराजाओं ने धन नहीं दिया जो सरकारी स्कूल-कॉलेजों के लिए दोनों हाथों से धन देकर सरकार के प्रति अपनी वफादारी का इज़हार करते थे। धन दिया शिक्षित मध्यवर्ग के लोगों ने।' देवियाँ गहने उतारकर कॉलिज के फण्ड में प्रदान कर देती थीं। .... मुसलमान भी कॉलेज के लिए चंदा दे रहे थे।' (पृ.-१३१, वही) धन जुटाने के लिए आर्य समाज ने नए-नए ढंग निकाले। वे व्यापक तौर पर जनता के पास गए। उस समय रिवाज चल पड़ा कि पुत्र जन्म, विवाह आदि के मौकों पर डी.ए.वी. स्कूल को कुछ दान अवश्य दिया जाए। 'आटा-फण्ड' द्वारा भी डी.ए.वी. कॉलेज के लिए पैसे जमा करने में बहुत मदद मिली।

अपनी शिक्षा संस्थाओं के प्रबंध और संचालन के लिए १८८६ में पंजाबी आर्यों ने दयानंद एंग्लो वैदिक कॉलिज ट्रस्ट एण्ड मैनेजमेण्ट सोसायटी कायम की। इसका मकसद ऐसी शिक्षा संस्थाएं खोलना था जिनमें हिन्दी, संस्कृत और अंगरेजी साहित्य के साथ-साथ विज्ञान और शिल्प (इंजीनियरिंग) की शिक्षा दी जाए। मैनेजिंग कमेटी को हक था कि वह शिक्षा, कानून, विद्वता, कुलीनता और चिकित्सा तथा इंजीनियरिंग में प्रवीणता तथा वैज्ञानिकता के आधार पर विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों को कमेटी के सदस्य के रूप में नियुक्त करें। इन सदस्यों के लिए आर्यसमाजों का सभासद होना जरूरी नहीं था। (पृ. १३२, वही) सोसायटी ने उस वक्त भी अपने प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाया जबकि ऊँची शिक्षा के लिए अंगरेजी माध्यम तय किया। एक जून, १८८६ को कायम हुए पहले डी.ए.वी. स्कूल के लिए पंजाबियों का उत्साह ऐसा था कि पहले हफ्ते में ही ३०० विद्यार्थी भर्ती हो गए। जून के अंत में विद्यार्थियों की संख्या ५५० तक पहुँच गई। ठेठ देशी

प्रयत्नों से, पब्लिक की मदद से चलनेवाले इस स्कूल का मासिक खर्च भवन-किराया, चौकीदार, शिक्षकों का वेतन वगैरह मिलाकर कुल ३०५ रु. बैठा, (पृ. १३५, वही) भारतेन्दु को विश्वास नहीं था कि देशी लोगों द्वारा नियंत्रित-संचालित स्कूलों के लड़के सरकारी स्कूलों के लड़कों की बराबरी कर सकेंगे। यह बात उस वक्त आमतौर पर सही होने के बावजूद लाहौर में नवजागरण का ऐसा असर था कि डी.ए.वी. स्कूल में एक साल के बाद 'जब चार विद्यार्थी कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में बैठाए गए तो वे चारों उत्तीर्ण हो गए और उनमें से एक प्रथम श्रेणी में पास हुआ और दो द्वितीय श्रेणी में।' (पृ. १३६, वही)

नवजागरण के लिए अपनी शिक्षा संस्थाओं को खोलने के जैसे प्रयत्न भारतेन्दु के जीवनकाल में पंजाब में शुरू हुए, वैसे प्रयत्न बंगाल में पिछले पचास सालों से चल रहे थे। भारतेन्दु द्वारा शिक्षा के लिए निजी प्रयत्नों को अविश्वास से देखना इसलिए भी आश्चर्यजनक था क्योंकि बंगाल में हुए इन प्रयत्नों से, खासकर उसमें विद्यासागर की भूमिका से वे जरूर वाकिफ रहे होंगे। वैसे तो बंगाल में पहला स्कूल १८१४ में खुल गया था, लेकिन १८३० के दशक में वहाँ अंगरेजी शिक्षा की मांग बहुत बढ़ गई थी। १८३१ की शिक्षा विभाग की एक रिपोर्ट के मुताबिक कंपनी की सरकार उतने स्कूल खोलने में असमर्थ थी जितने लोग चाहते थे। लिहाजा हर जिले में सरकार से स्वतंत्र अंगरेजी ढंग के स्कूल निजी प्रयत्नों से खोले जाने लगे। बहुत-से धनी लोगों ने अपने-अपने मुहल्लों में अपने पैसों से स्कूल खोले। देहाती इलाकों तक में लोगों ने संघबद्ध होकर ऐसे स्कूल खोले। (पृ. ८०, **एस्सेज़ इन बंगाल रेनेसॉ,** अरविंद पोद्दार) बंगाल के नवजागरण का अध्ययन करते हुए अरविंद पोद्दार ने नोट किया कि बंगाल में हालांकि मातृभाषा में शिक्षा देने की बात सरकार शुरू से करती रही और १८५४ में चार्ल्स वुड के मशहूर डिस्पैच में अंगरेजी और देशी भाषाओं, दोनों में शिक्षा देने का निर्देश दिया गया था, फिर भी सरकारी स्कूलों में अंगरेजी के मुकाबले मातृभाषा बंगला की जगह काफी नीचे रही। भारतीयों के सांस्कृतिक विकास के लिहाज से सरकारी स्कूलों में कई कमियाँ थीं। इन कमियों को पूरा करने का बीड़ा उठाया ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने, जिनसे बाद में भारतेन्दु का पत्राचार हुआ। बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर का एक महत्वपूर्ण काम ठीक वही था जिसकी भारतेन्दु को देशी लोगों से कोई उम्मीद नहीं थी — शिक्षा का प्रबंध और संचालन। बारह सालों तक संस्कृत विद्या पढ़ने के बाद, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के संदर्भ में उसकी निरर्थकता को समझकर, यूरोपीय बुद्धि-विवेकशीलता (रैशनलिटी) और आधुनिक मानवतावादी विचारों के सम्पर्क में आने वाले — लेकिन अपनी वेश-भूषा, रहन-सहन और उद्देश्यों में पक्के भारतीय — विद्यासागर पहले कलकत्ता संस्कृत कालेज के सहायक सचिव बने, फिर प्रिंसिपल बने। संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल के रूप में विद्यासागर ने जो भूमिका निभाई, वह इसका सजीव उदाहरण था कि देशी लोग शिक्षा संस्थाओं के प्रबंध-संचालन में कैसी योग्यता और कार्य-कुशलता दिखा सकते हैं। इस भूमिका का वर्णन करते हुए अरविंद पोद्दार ने लिखा है कि विद्यासागर के प्रिंसिपल बनने से पहले तक कलकत्ता संस्कृत कॉलेज में सिर्फ ब्राह्मण और वैश्य जाति के लड़के ही दाखिला ले सकते थे। प्रिंसिपल बनने के छः महीने के अंदर विद्यासागर ने, जो खुद ब्राह्मण थे, पहले कायस्थों के लिए और फिर सभी जातियों के लिए संस्कृत कॉलेज के दरवाजे खोल दिए। कॉलेज के ब्राह्मण शिक्षकों ने और नगर के संस्कृत पंडितों ने इसकी स्वच्छंदता की कड़ी निंदा की, लेकिन विद्यासागर ने अपना फैसला नहीं बदला। विद्यासागर से पहले संस्कृत

कॉलेज में समय का कोई अनुशासन नहीं था। शिक्षक और विद्यार्थी जव चाहे कॉलेज में आते, जव चाहे चले जाते। विद्यासागर ने कॉलेज में पढ़ाई के घण्टे नियत किए और आने-जाने का पक्का समय बांधकर शिक्षक और विद्यार्थियों को वक्त का पावन्द वनाया। उन्होंने संस्कृत सीखनेवालों के लिए पुराने ढंग की किताबों की जगह सरल संस्कृत पाठ्यपुस्तकें तैयार कराईं। साथ ही संस्कृत के विद्यार्थियों के लिए भी अंगरेजी भाषा और आधुनिक यूरोपीय ज्ञान की पढ़ाई को अनिवार्य कर दिया। पाठ्यक्रम को बुद्धि-विवेकसम्मत वनाने के मकसद से उसका पुनर्गठन किया। कई पुरानी पाठ्यपुस्तकें हटा दीं और नई लगाई। इस सिलसिले में उन्होंने अगर पुराने संस्कृत दार्शनिक सम्प्रदायों को वहुत अर्थवान नहीं पाया तो इसी नजर से विशप वर्कले की रचनाओं को भी पाठ्यक्रम से हटा दिया। संस्कृत कॉलेज के प्रवंध और संचालन में विद्यासागर ने जो सुधार किए -- जिनमें वे सफल भी हुए -- उसके पीछे एक दृष्टि थी, एक विज़न था। वह विज़न, अरविंद पोद्दार के शब्दों में, छात्रों की ऐसी पीढ़ियाँ तैयार करना था जो संस्कृत शास्त्रों में पारंगत होकर भी शास्त्र के दुराग्रहों और मूर्खतापूर्ण रूढ़ियों से मुक्त होगी। (पृ.-१७६, वही)

बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में विद्यासागर की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका बंगला भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने में थी जिसके लिए उन्होंने सरकार का सहयोग लिया और जहाँ यह सहयोग नहीं मिला, वहाँ निजी प्रयत्नों से यह कर दिखाया। यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान और अंगरेजी भाषा को भारतीयों के आधुनिक विकास के लिए अनिवार्य ठहराने वाले विद्यासागर ने शिक्षा का माध्यम वंगला भाषा को बनाने पर जोर इसलिए दिया क्योंकि वे महसूस करते थे कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और नवजागरण को देहाती इलाकों तक ले जाने का काम अंगरेजी के माध्यम से नहीं किया जा सकता। इसके लिए वंगला ही शिक्षा का माध्यम हो सकती थी। विद्यासागर शुरू से वंगला माध्यम वाले स्कूल खोलना चाहते थे। १८४४ में बंगाल में बंगला माध्यम से शिक्षा देने के लिए एक सौ स्कूल खोलने की लार्ड हार्डिंग की योजना को सफल वनाने के लिए विद्यासागर ने काफी प्रयत्न किए। १८५४ के बाद सरकार ने पहला मॉडल बंगाली स्कूल खोला। उसकी पूरी योजना विद्यासागर ने वनाकर दी थी। वंगला के माध्यम से आधुनिक शिक्षा देने की विद्यासागर की योजनाओं को सरकारी साधनों का सहारा मिल जाने से १८५५ से १८५६ के बीच विद्यासागर ने नदिया, हुगली, बर्दवान और मिदनापुर जिलों में कुल वीस मॉडल वंगला स्कूल कायम किए। (पृ. १७६, वही) १६वीं सदी में विद्यासागर एक मिसाल थे कि देशी लोग शिक्षा के प्रवंध और संचालन में क्या कुछ नहीं कर सकते।

सिर्फ वंगाल और पंजाव में नहीं, खुद भारतेन्दु के अपने प्रांत में भी ऐसे समाज सुधारक मौजूद थे जो शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य के नियंत्रण के खिलाफ और हिन्दुस्तानियों की शिक्षा के लिए हिन्दुस्तानियों के निजी प्रयत्नों के समर्थक थे। ऐसे लोगों में सैयद अहमद खां सवसे आगे थे। भारतेन्दु की तुलना में सैयद अहमद यूरोपीय सभ्यता, ज्ञान-विज्ञान और भारत में अंग्रेजी शासन के कहीं ज्यादा वड़े समर्थक और प्रशंसक थे। लेकिन हिन्दुस्तानियों में नवजागरण लाने के लिए उन्होंने शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण को कभी पसंद नहीं किया। सरकारी अफसर के रूप में किए गए राजा शिवप्रसाद के शिक्षा संवंधी प्रयासों को अगर हम छोड़ दें, तो १६वीं सदी के हिन्दी-उर्दू प्रदेश में, राजा शिवप्रसाद के सवसे वड़े प्रतिद्वंद्वी सैयद अहमद खां शिक्षा आंदोलन के सवसे वड़े सूत्रधार थे। सैयद आभिजात्य और भद्रवर्गीय (अशराफ)

मुसलमानों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। (शुरू में आभिजात्य और भद्रवर्गीय हिन्दुओं का भी प्रतिनिधित्व किया था) अपनी पुरानी मुगल सल्तनत की यादों में डूबे हुए और सिर पर वैठी फिरंगी हुकूमत की हकीकत का सामना कैसे किया जाए, इसे समझने में असमर्थ उस वक्त के भद्रवर्गीय मुस्लिम समाज को एक नया ऐतिहासिक मोड़ देने का काम सैयद अहमद ने ठाना। काम काफी मुश्किल और चुनौती भरा था। इस काम के लिए, नवजागरण के दूसरे भारतीय नेताओं की तरह, उन्होंने भी शिक्षा को अपना सबसे मजबूत हथियार समझा। गदर के महज डेढ़ साल के अंदर १८५९ में उन्होंने पहला स्कूल मुरादाबाद में खोला – मुरादाबाद पंचायती मदरसा। इसमें एक साल के अंदर १७५ छात्र पढ़ने लगे। दूसरा स्कूल १८६४ में गाजीपुर में खोला – इंग्लिश हाईस्कूल जो बाद में विक्टोरिया हाईस्कूल कहलाया। अरबी–फारसी और उर्दू के अलावा यहाँ संस्कृत की पढ़ाई भी होती थी, पर हिन्दी की नहीं। (पृ.-१८६, **सर सैयद अहमद खां एण्ड मुस्लिम माडर्नाइजेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान,** हफीज़ मलिक) १८६७ में उन्होंने देशी भाषा का एक विश्वविद्यालय खोलने की योजना बनाई जिसके साकार नहीं होने पर १८७५ में अलीगढ़ स्कूल कायम किया। यह १८७७ में अलीगढ़ कालेज में तब्दील हुआ और काफी बाद में अलीगढ़ विश्वविद्यालय बना। सैयद अहमद के खोले स्कूल-कॉलेजों में हिन्दू लड़कों की संख्या भी हमेशा काफी बड़ी रही। उनकी शिक्षा योजनाओं को साकार करने में पश्चिमोत्तर प्रांत के जितने मुसलमानों ने आर्थिक मदद दी, उससे ज्यादा हिन्दुओं ने दी। शुरू में सैयद अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के विरोधी थे। उनका विश्वास था कि सिर्फ मातृभाषा के जरिए ही आधुनिक ज्ञान आत्मसात किया जा सकता है। इसी मकसद से उन्होंने १८६३ में आधुनिक यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की किताबों का उर्दू में अनुवाद करने के लिए **साइंटिफिक सोसायटी** कायम की। १८६७ में अपने नेतृत्व वाले एक और संगठन **ब्रिटिश इंडिया एसोशिएशन** के जरिए उन्होंने सरकार को उत्तर भारत में सभी विषयों की ऊँची शिक्षा देशी भाषा (उर्दू) के माध्यम से देने के वास्ते एक देशी विश्वविद्यालय खोलने की योजना भिजवाई। दूसरे कारणों के अलावा, सरकार ने इसे इसलिए भी नामंजूर कर दिया कि विश्वविद्यालय जैसी संस्था में आधुनिक विषयों की ऊँची शिक्षा देने के लिए उर्दू में काफी किताबें नहीं हैं। (पृ. १९०, वही) उसी वक्त प्रस्तावित विश्वविद्यालय में उर्दू की जगह हिन्दी को माध्यम बनाने की मांग हिन्दी आंदोलन के नेताओं ने उठाई (जबकि ऊँची शिक्षा की किताबें हिन्दी में और भी कम थीं)। सरकारी असहयोग और हिन्दी नेताओं के विरोध के कारण सैयद ने अपनी योजना छोड़ दी। इसके बाद तीन महीने इंग्लैंड में रहकर वहाँ के पब्लिक स्कूलों और ऑक्सफोर्ड-कैम्ब्रिज की शिक्षा प्रणाली का अध्ययन करने से उनके शिक्षा संबंधी विचारों में वदलाव आया। उन्होंने भारत में औपनिवेशिक सरकार की शिक्षा प्रणाली की काफी कड़ी आलोचना करते हुए भारत सचिव को एक मेमोरेण्डम भेजा – Strictur upon the present educational system in India. इसमें की गई आलोचना असल में इंग्लैण्ड में प्रचलित आधुनिक शिक्षा प्रणाली से प्रेरित थी। भारत लौटने के बाद सैयद उर्दू की जगह अब अंगरेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने को राजी हो गए– हालांकि वे खुद अंगरेजी नहीं जानते थे (अंगरेजी के मामले में उनकी मदद उनके बेटे महमूद करते थे)। ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के मॉडल पर उन्होंने अपना अलीगढ़ कॉलेज तैयार किया जिसमें उनका विज़न भद्रवर्गीय मुस्लिम परिवारों के लड़कों से एक ऐसी आधुनिक पीढ़ी तैयार करना था जो अंगरेज सरकार से सहयोग

करते हुए, ऊँची नौकरियाँ हासिल कर शासन में भागीदार बने और भारत के उन भद्रवर्गीय मुसलमानों के हितों का नेतृत्व करे जिन्हें वहाबी आंदोलन और गदर के वक्त से अंगरेजों ने भारत में अपना राजनीतिक दुश्मन नम्बर एक मान लिया था। अलीगढ़ कॉलेज कायम करने में उन्हें अपने सम्पन्न मुसलमान और हिन्दू समर्थकों के अलावा ज्यादातर सरकारी मदद का सहारा लेना पड़ा क्योंकि उनके आधुनिक और विवेक संगत धार्मिक विचारों के कारण परंपरावादी उलेमा उनके सख्त विरोधी थे। इन उलेमाओं के असर से ज्यादातर मुसलमानों ने उनकी आर्थिक मदद नहीं की। कुरआन पर लिखी अपनी तर्कपूर्ण और बुद्धि-सम्मत टीका को अलीगढ़ कॉलेज के कोर्स में नहीं लगाने और लड़कों को अपने धार्मिक विचारों की शिक्षा नहीं देने का आश्वासन देने के बावजूद देववंदी उलेमाओं ने सैयद के नए धार्मिक विचारों का विरोध करना छोड़ा नहीं। (पृ. २०१, वही) सरकारी मदद के साथ सरकारी दबाव भी आते रहे और सैयद को अपने शिक्षा संवंधी वहुत से विचारों को छोड़ते रहना पड़ा। इन सबके बावजूद शिक्षा संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण और प्रबंध के हक में वे कभी नहीं रहे।

हंटर आयोग के सवालों का जवाब देते हुए सैयद अहमद खां ने परंपरागत देशी शिक्षा संस्थाओं का उतना निराशापूर्ण चित्र नहीं खींचा, जितना भारतेन्दु ने खींचा। एक किस्म की ऐसी संस्थाओं की उन्होंने तारीफ की और इस शिक्षा प्रणाली को पूरी तरह से खारिज करने के वजाय, लोगों की जरूरतें पूरी होने के कारण, उनके बारे में सकारात्मक ढंग से विचार करने और उनका स्तर सुधारने की सिफारिश की। (पृ. ८४, **राइटिंग एण्ड स्पीचेज ऑफ सर सैयद अहमद खां**, सम्पादक : शान मुहम्मद) भारतेन्दु ने मुसलमानों को सरकारी स्कूलों से दूर रहनेवाली कौम वताया था। यह हालत पुरानी थी और हंटर आयोग के समय तक इसमें कुछ बदलाव आया था। सैयद अहमद ने अंगरेजी शिक्षा व्यवस्था से मुसलमानों की बेरुखी को माना। वे एक अरसे से इसके कारणों की गहराई से खोज करते आ रहे थे। अलीगढ़ कॉलेज की योजना बनाने से पहले उन्होंने इश्तेहार देकर एक निबंध प्रतियोगिता करवाई थी जिसके विषय में एक मुद्दा यह था कि मुसलमान अंगरेजी शिक्षा से दूर क्यों हैं? इस विषय पर अलग-अलग विचार वाले जागरूक मुसलमानों के कुल ३२ निबंध आए जिनमें से तीन को इनाम दिया गया और पत्रिका में छापा गया। इन निबंधों में व्यक्त विचारों को सामने रखकर सैयद ने हिन्दी-उर्दू प्रदेश के मुसलमानों की शिक्षा-समस्या को समझने का प्रयत्न किया। आधुनिक शिक्षा से भद्रवर्गीय मुसलमानों की विरक्ति के पीछे उन्होंने मुसलमानों की धार्मिक प्रथाओं, सामाजिक रिवाजों, राजनीतिक परंपरा और अंगरेजी शिक्षा के प्रति उनके पूर्वाग्रहों को देखा, साथ ही अंगरेजी शिक्षा प्रणाली में मौजूद कुछ कमियों को भी महसूस किया। उन्होंने मुस्लिम समाज की इस हालत को वदलने का बीड़ा उठाया। विभिन्न संस्थाएं बनाकर, पत्रिका निकालकर, लेख लिखकर और घूम-घूमकर भाषण देकर उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रति भद्रवर्गीय मुसलमानों के नजरिए को वदलने की कोशिश की। भारतेन्दु की तरह सैयद अहमद ने आयोग से यह नहीं कहा कि हिन्दुस्तानियों में शिक्षा का प्रसार तभी हो सकता है जब अंगरेज सरकार कुछ करे। इसके उलटे, अंगरेजी शिक्षा के प्रति मुसलमानों की वेरुखी के सिलसिले में उन्होंने हंटर आयोग से कहा कि इसका हल खुद मुसलमानों को ही करना होगा। The remedy therefore lies in no hands but those of the muhammadans themselves, and the evils can be removed by their efforts alone. (पृ. ६४, वही)

सैयद अहमद के शिक्षा संबंधी कई विचार, उनके कई दूसरे विचारों की तरह, आर्यसमाजियों से काफी मिलते-जुलते थे, हालांकि उन्हें आर्यसमाजियों जैसी सफलता नहीं मिली। आयोग के एक सवाल के जवाब में उन्होंने अफसोस जाहिर किया कि इस देश में शिक्षा के प्रबंध में निजी प्रयत्न बहुत कम हुए हैं जबकि देशी लोगों को इस काम में सबसे आगे रहना चाहिए था (पृ.-४०, वही) अपने बयान में उन्होंने शिक्षा के लिए निजी प्रयत्नों को जरूरी मानते हुए सरकार को इसमें मदद करने के लिए कहा। निजी प्रयत्नों से शिक्षा संस्थाएं खोलने वालों को सरकारी अनुदान देने की व्यावहारिक मांग करते हुए उन्होंने आयोग से अनुदान देने की शर्तों को और उदार बनाने को कहा ताकि स्थानीय स्तर पर निजी स्कूल मजबूती से खड़े रह संकें।

२७ जनवरी, १८८४ को गुरुदासपुर (पंजाब) के एक मदरसे में दिए गए उनके भाषण से शिक्षा के मामले में हिन्दोस्तान को आत्मनिर्भर बनाने के उनके दृढ़ विचारों का पता चलता है। भारतेन्दु ने आयोग से कहा था कि अंगरेजों के आने से पहले यहाँ शिक्षा की कोई ढंग की व्यवस्था नहीं थी। सैयद अहमद ने अपने भाषण में अंगरेजी राज से ठीक पहले की तो नहीं, लेकिन काफी पहले के हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों में शिक्षा और ज्ञान की पुरानी परंपरा को याद किया और उन्हें गौरवपूर्ण बताया। उन्होंने हिन्दुओं के गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन और नीतिशास्त्र के ज्ञान और शिक्षा को याद किया और यूनानियों से सीखी हुई विद्या का अरवी मुसलमानों ने जो अभूतपूर्व विकास और प्रसार किया था, उसकी भी सराहना की। यह भी कहा कि सिर्फ विरासत पर गर्व करना काफी नहीं, वर्तमान में भी हमें ऐसा ही गौरवपूर्ण काम करना चाहिए। अपने भाषण में उन्होंने इस हकीकत पर जोर दिया कि कोई भी सरकार अगर वह चाहे भी तो पूरे देश के लिए शिक्षा का प्रबन्ध कभी नहीं कर सकती। 'मेरे विचार से अगर कोई कौम अपने बच्चों को शिक्षित करना चाहती है तो यह तब तक नामुमकिन है जब तक कि वह खुद उसके लिए प्रयत्न न करे। यह अफसोस की बात है कि हम चाहते हैं कि हर जगह सरकार ही स्कूल खोले।' (पृ.-१७२, वही) सैयद के ये विचार भारतेन्दु के उन विचारों से कितने अलग और उलटे थे कि भारत में शिक्षा की उन्नति सिर्फ सरकारी प्रयत्नों से ही हो सकती है। नवजागरण की भावना के खिलाफ पड़ने वाले ऐसे विचार का विरोध करते हुए सैयद अहमद ने दृढ़ता से कहा कि भारतीय लोग सिर्फ तभी उन्नति कर सकते हैं जब वे सरकार और उसके हाकिमों की दखलंदाजी के बिना ही, अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबंध खुद करे और अपनी शिक्षा संस्थाओं को स्वैच्छिक योगदान से, अपने नियंत्रण में, खुद चलाएं: Indians will progress only when they themselves, without the interference of the Government and its officers, arrange for the education of their young boys and of their voluntary contribution, and themselves administer and control it. (पृ.-१७२, वही)

सैयद ने कहा कि सरकार जो सेक्युलर शिक्षा देती है, वह ठीक है। लेकिन हमारी शिक्षा में धार्मिक शिक्षा भी शामिल होनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा देना सरकार का काम नहीं है। लिहाजा अपनी शिक्षा का इंतजाम हमें खुद करना चाहिए – Therefore the people of our country and the people of our nation should not burden the Government with education and should take it in their own hands. (पृ. १७३, वही)

(भारतेन्दु ने नरम ब्रिटिश अभिभावकत्व के जुए को – कम से कम शिक्षा के क्षेत्र में–

उतार फेंकने को आतुर भारत की जिन उपद्रवी-संतानों पर कटाक्ष किया था, क्या उनका निशाना सैयद अहमद जैसे लोग थे?)

यह समझना गलत होगा कि सैयद सिर्फ धार्मिक शिक्षा देने के वास्ते शिक्षा संस्थाओं को सरकारी नियंत्रण से मुक्त रखना चाहते थे। उनकी प्रेरणा के स्रोत इंग्लैंड के पब्लिक स्कूल थे जो विभिन्न सामाजिक उद्देश्यों या वर्गीय जरूरतों के मुताबिक शिक्षा का प्रबंध अपने ढंग से करते थे। धार्मिक शिक्षा (रामायण के अंश वगैरह) देने के लिए भारतेन्दु जहां अंगरेज सरकार से सिफारिश करते थे। वहां सैयद इसे सरकार द्वारा देने का विरोध करते थे। इसके अलावा, चरित्र निर्माण, नेतृत्व के विकास और कौमी भावना – सामुदायिक एकजुटता की भावना – के विकास के लिए भी वे शिक्षा संस्थानों पर भारतीयों का नियंत्रण-प्रबंधन चाहते थे। (पृ.-२००, वही)

शिक्षा संबंधी औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी विचारों के अपने अध्ययन के सिलसिले में कृष्णकुमार ने इस धारणा को गलत बताया है कि रानाडे, विद्यासागर, दयानंद सरस्वती और बंकिमचंद्र के शिक्षा संबंधी विचार अपने सामाजिक उद्देश्यों और ब्यौरों में अंगरेज शासकों के विचारों से अलग थे। (पृ. ४१, **पॉलिटिकल एजेण्डा फॉर एजूकेशन**) इस आलोचना को, मूलतः सही होने पर भी, पूरी तरह सही नहीं माना जा सकता। यह भारतीय नवजागरण में शिक्षा के लिए हुए निजी प्रयत्नों का महत्व कम करके आंकना है। भारतीय समाज सुधारक शिक्षा के प्रश्न पर तीन मुद्दों को अहमियत देते थे – आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, व्यापक जनता की शिक्षा और देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा। इन मुद्दों पर औपनिवेशिक शासक मुँह-जबानी जोर देते थे, पर इन्हें अमल में लाने से कतराते थे। इसे कृष्णकुमार ने भी माना है। समाज सुधारकों का एक मुद्दा भारतीय वातावरण और सकारात्मक परंपराओं के साथ शिक्षा का मेल बैठाने का था, जिसकी फिक्र औपनिवेशिक शासन को नहीं थी। यह सही है कि गांधी जी को छोड़कर किसी भी भारतीय समाज सुधारक ने आधुनिक पश्चिमी शिक्षा को पूरी तरह से खारिज नहीं किया। वे उसमें शामिल ज्ञान-विज्ञान के विषयों के प्रति हमेशा आकर्षित रहे। इसी के नतीजे में वे **प्रगति** और **आधुनिकता** की यूरोपीय धारणाओं में कमोबेश यकीन करते रहे। इन सबके बावजूद उन्होंने औपनिवेशिक शिक्षातंत्र से अलग रहकर अपने ढंग से शिक्षा देने के जो प्रयास किए, उनके महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता। इन प्रयत्नों के बिना भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की धारणा का – चाहे वह कमजोर और धुंधली-सी क्यों न रही हो – विकास नामुमकिन था।

औपनिवेशिक शिक्षा और उससे जुड़ी संस्कृति के साथ अपने विरोध के कारण ही भारतीय सुधारकों ने अपनी भारतीय पहचान की खोज शुरू की। शिक्षा के क्षेत्र में इस पहचान की मुख्य अभिव्यक्ति, कृष्णकुमार के मुताबिक, शिक्षा संस्थाओं पर अपने नियंत्रण के रूप में हुई। (पृ. ११६, वही) शिक्षा के साथ संस्कृति का संबंध सिर्फ पाठ्यक्रम के विषयों तक सीमित नहीं होता। वह स्कूल या कॉलेज के पूरे वातावरण से जुड़ा होता है, शिक्षा के माध्यम और संस्था के अधिकारियों से भी जुड़ा होता है। ताज्जुब नहीं कि १९वीं सदी में शिक्षा के क्षेत्र में जिस एक बात पर सभी सुधारकों ने समान रूप से जोर दिया, वह शिक्षा संस्थाओं पर भारतीयों के नियंत्रण और संचालन की थी। भारतेन्दु ठीक इसी विचार से कटे हुए थे और इस दृष्टि से

भारतीय नवजागरण की सामान्य धारा से कटे हुए थे। भारतेन्दु की यह कमी क्या पश्चिमोत्तर प्रांत की तत्कालीन परिस्थितियों की, खासकर हिन्दी भाषी समाज की, कमी थी?

भारतीय नवजागरण की खासियत यूरोपीय सम्पर्क से हासिल आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को आत्मसात करके, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के मुआफिक एक आधुनिक समाज वनाने की आत्मनिर्भर कोशिशों में थी। नवजागरण की यह विशेषता १९वीं सदी के हिन्दी-उर्दू प्रदेश में अपने सवसे कमजोर रूप में दिखाई देती है। यहां हुए मुस्लिम नवजागरण के दौरान पहले १८६२ में कायम हुआ देववंद दारूल उलूम और वाद में १८७७ में कायम हुआ अलीगढ़ कॉलेज, दोनों इस कोशिश में अपने-अपने ढंग से जितने सफल हुए, उतने ही विफल भी रहे। देववंद का दारुल उलूम अगर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सही संबंध नहीं जोड़ सका तो अलीगढ़ कॉलेज अपनी सभ्यता और परिवेश से कटा रहा। लेकिन इस प्रदेश के हिन्दुओं के वीच, हिन्दी भाषी समाज में, १९वीं सदी में ऐसा कोई महत्वपूर्ण प्रयत्न हुआ ही नहीं। औपनिवेशिक शिक्षा तंत्र के वाहर शिक्षा के किसी भी वैकल्पिक प्रवंध को और उसमें निजी प्रयत्नों की कोई भी भूमिका नहीं देख पाना भारतेन्दु की सिर्फ अपनी सीमा नहीं थी। यह उस वक्त के पश्चिमोत्तर प्रांत के हिन्दी भाषी समाज की वास्तविक स्थिति को और उसके तथाकथित नवजागरण की असली कमजोरी को प्रकट कर देता है। वहां की यह हालत अगले दस सालों के वाद तक भी वनी रही जिसका जिक्र भारतीय नवजागरण के महत्वपूर्ण नेता महादेव रानाडे के एक भाषण में मिलता है। १८९५ में अखिल भारतीय नवजागरण की प्रतिनिधि संस्था इंडियन सोशल कॉन्फेरेन्स के सालाना जलसे में भाषण देते हुए रानाडे ने पश्चिमोत्तर प्रांत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार न हो पाने का कारण वहां की पिछड़ी हुई परिस्थितियों को माना। उन्होंने कहा कि वहां न तो आर्य समाज के पैर जम सके, न ब्रह्म समाज ही कोई असर डाल सका। वहां के लोग वहुत धीमी गति से चलते हैं। वढ़िया प्राकृतिक स्थिति और आबो-हवा के वावजूद पश्चिमोत्तर प्रांत की परिस्थितियों की मौजूदा विशेषता वहां के लोगों का आलस और पिछड़ापन है। (पृ. २७७, **इंडियन नेशनलिज्म एण्ड हिंदू सोशल रिफार्म,** चार्ल्स एच. हिमसेथ) हालांकि रानाडे ने अपनी आलोचना में पश्चिमोत्तर प्रांत के किसी वर्ग विशेष का नाम नहीं लिया, लेकिन जाहिर है कि लोगों से उनका मतलव वहां के भद्रवर्ग से है जो १९वीं सदी में, कुछ अपवादों को छोड़ दें तो, सभी जगह नवजागरण का मुख्य आधार था। रईस और सार्वजनिक जीवन में प्रभावशाली होने के वावजूद शुद्ध हिन्दी की यूनिवर्सिटी खोलने और शिल्प कला का कॉलेज बनाने की लालसा को पूरा करना तो दूर रहा, भारतेन्दु अपने जीवन में एक स्कूल के बाद दूसरा स्कूल तक नहीं खोल सके। भारतेन्दु का चौखम्भा स्कूल इस तथ्य का जीवंत उदाहरण है कि हिन्दी प्रदेश में आत्म-निर्भरता की भावना और शिक्षा के लिए होने वाले निजी प्रयत्न कितने कमजोर थे। १७ साल से भी कम उम्र में भारतेन्दु ने अपने छोटे भाई की मदद से अपने घर में ४-५ लड़कों को हिन्दी-अंगरेजी पढ़ाना शुरू किया। १८६७ में लड़कों की संख्या तीस तक पहुंची तो वाकायदा एक मास्टर रखकर इस घरेलू स्कूल को चौखम्भा स्कूल के रूप में कायम कर दिया गया। भारतेन्दु ने स्कूल के संरक्षकों में राजा शिवप्रसाद, सैयद अहमद खां और भूदेव मुखर्जी जैसी शिक्षा क्षेत्र की वड़ी-वड़ी हस्तियों को रखा था। राजा शिवप्रसाद ने अपनी एक रिपोर्ट में स्कूल चलाने के लिए भारतेन्दु की तारीफ की। ऐसी ही तारीफ सैयद अहमद खां ने भी अपनी एक टिप्पणी में की। इस प्रोत्साहन के वावजूद भारतेन्दु अपने स्कूल को प्राइमरी से

बढ़ाकर मिडल तक भी नहीं पहुंचा सके। इसकी एक वजह आर्थिक थी। बहुत-से राजाओं, रईसों और अंगरेज हाकिमों से सम्पर्क रखने वाले भारतेन्दु अपने प्राइमरी स्कूल के लिए एक मजबूत आर्थिक आधार बनाने में विफल रहे। शायद इसके लिए उन्होंने गंभीरता से कभी प्रयत्न भी नहीं किया। १८८० से सरकार स्कूल को मासिक सहायता देने लगी पहले २०/- रु. फिर ४५/– रु.। बनारस म्यूनिसपैलिटी ने भी स्कूल को हर साल २०० रु. अनुदान देना शुरू किया। इसके बाद भी स्कूल प्राइमरी का प्राइमरी ही रहा। भारतेन्दु की मृत्यु के बाद राजा शिवप्रसाद के सुझाव पर स्कूल का नाम **हरिश्चंद्र चौखम्भा स्कूल** रखा गया। भारतेन्दु के न रहने पर स्कूल सरकारी सहायता से १८८८ में प्राइमरी से मिडल हुआ, फिर हाई स्कूल में विकसित हुआ। सरकारी सहायता रुक गई तो स्कूल फिर से मिडल हो गया – हालांकि हिन्दी समाज में भारतेन्दु का नाम जपने और उनके नाम पर तरह-तरह की संस्थाएं बनाने और पत्रिकाएं चलाने वालों की कमी नहीं थी। उपेक्षा और आर्थिक दिक्कतों की वजह से १९०७ तक यह मिडल स्कूल भी बन्द होने की हालत में पहुंच गया। बाबू गोविन्ददास और दूसरे लोगों ने फिर सरकार से स्कूल बचाने की फरियाद की। सरकार ने धन दिया, म्यूनिसपैलिटी ने जमीन दी। स्कूल फिर धीरे-धीरे तरक्की करने लगा। हरिश्चंद्र चौखम्भा स्कूल का यह इतिहास हिन्दी नवजागरण में शिक्षा के प्रयत्नों पर अपने आप एक टिप्पणी है जिसपर अलग से कुछ कहने की जरूरत नहीं।

भारतेन्दु नवजागरण में शिक्षा को इतनी अहमियत देते थे तो अपना स्कूल चलाने और उसका विस्तार करने के लिए क्यों पैसे का कभी इंतजाम नहीं किया? क्या हिन्दी भाषी समाज के सम्पन्न और जागरूक तबकों में सार्वजनिक शिक्षा के लिए धन देने की कोई परंपरा न थी? ऐसी बात नहीं थी। हंटर आयोग ने जब एक सरकारी रिपोर्ट का हवाला देते हुए भारतेन्दु से पूछा (प्रश्न सं २१) कि यह शिकायत कहां तक सही है कि आपके प्रांत के धनी वर्गों के लोग शिक्षा के लिए पर्याप्त धन देना नहीं चाहते? तो भारतेन्दु ने तत्परता से इसका खण्डन करते हुए कहा कि शिकायत बिल्कुल बेबुनियाद है। अपने जवाब में उन्होंने ठोस तथ्यों का हवाला देते हुए पश्चिमोत्तर प्रांत के विभिन्न कालेजों – आगरा कालेज, बनारस कालेज, म्योर कालेज (इलाहाबाद) – को प्रांत के धनी लोगों द्वारा दिए गए चंदे की बड़ी-बड़ी रकमों, वजीफों और मेडलों की पूरी सूची पेश कर दी। यह सूची काफी लम्बी है। हिन्दी भाषी समाज के ये धनी लोग, जिनमें जमींदार, व्यापारी, रईस और सरकारी अफसर शामिल थे, सरकारी स्कूल-कॉलेजों को चलाने के लिए हजारों-लाखों रुपये का चन्दा खुशी-खुशी दे देते थे। पर यही लोग अपने प्रांत में निजी प्रयत्नों से, नवजागरण की भावना से प्रेरित होकर, शिक्षा संस्थाएं खोलने और चलाने के लिए पैसे नहीं देते थे। हिन्दी भाषी भद्रवर्ग का यह चरित्र उन प्रांतों – बंगाल, महाराष्ट्र या पंजाब – के भद्रवर्ग के चरित्र से बिल्कुल उलटा था जहां नवजागरण का जोर रहा। हिन्दी भाषी भद्रवर्ग की इस मनोवृत्ति का कारण क्या था? कारण भारतेन्दु ने अपने जवाब में बतलाया – 'कोई चाहे तो कह सकता है कि इसकी वजह सिर्फ ऊंचे एंग्लोइंडियन हाकिमों को खुश करना है।' Some will go so far as to say that what they subscribed was only to please some high Anglo-Indian officials. (पृ. ३६)

इस भद्रवर्ग को नवजागरण के मूल्यों में, आधुनिक शिक्षा के प्रयत्नों में उतनी सच्ची और गंभीर दिलचस्पी नहीं थी जितना वह इसका दिखावा करता था – सरकार की निगाहों में रहने के

लिए। इस मनोवृत्ति की भारतेन्दु आलोचना या निंदा नहीं करते। वे इस पर शर्मिंदा नहीं होते। वे इसके औचित्य की व्याख्या करते हुए अपना पक्ष ही सावित करते हैं कि हमारे लोगों में गुलामी की प्रवृत्ति है (जिस पर भारतेन्दु पहले से जोर दे रहे थे) और अगर सरकार थोड़ा-सा भी दखल दे तो बड़े-बड़े काम आसानी से हो सकते हैं। ....but this will go only to prove the slavish disposition of the people, and to show that great things can be easily accomplished by a little Government interference. (पृ. ३६)

गुलामी की ठीक इसी मनोवृत्ति को दूर कर भारतीयों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए भारतीय नवजागरण प्रयत्न कर रहा था – जबकि भारतेन्दु इस मनोवृत्ति को एक तथ्य मानकर, इसके साथ मेल बैठाते हुए चलते दिखायी देते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के मुताविक बलिया वाले भाषण में उन्होंने यूरोपीय देशों के मुकाबले हिन्दुस्तानियों की मनोवृत्ति को पेश किया और हिन्दुस्तानियों के विकास में अंगरेजी राज की भूमिका को दिखाते हुए कहा कि हम हिन्दुस्तानी तो रेलगाड़ी है जबकि अंग्रेज रेल का इंजिन। 'यद्यपि फर्स्ट क्लास, सेकेण्ड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े-बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी है पर बिना इंजिन के ये सब नहीं चल सकती। वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते?' (पृ. १०१०, भारतेन्दु समग्र)

पश्चिमोत्तर प्रांत के हिन्दी भाषी भद्रवर्ग के इस साहित्यिक वर्णन के मुकाबले वास्तविकता कहीं ज्यादा बुरी थी क्योंकि सरकार ने स्कूल खोले थे, फिर भी लोगों ने उसमें ज्यादा दिलचस्पी नहीं ली थी। सरकारी अनुदान मिलने पर भी शिक्षा संस्थाओं और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में गिरावट आई। युक्त प्रांत में चली इस उलटी प्रक्रिया का जिक्र करते हुए हंटर आयोग ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि १८७०-७१ से १८८०-८१ के बीच सरकारी अनुदान लेने वाली निजी शिक्षा संस्थाएं ७५ से घटकर ३५ रह गईं। सरकारी सहायता से चलने वाले कॉलेज ५ से घटकर २ रह गए, सेकेंडरी स्कूल २०३ से घटकर ६६ हो गए। (पृ. ३७१-७२) १६वीं सदी में हिन्दी-उर्दू प्रदेश का यह पिछड़ापन नवजागरण के एक और प्रधान मुद्दे – स्त्री शिक्षा – पर और भी खुलकर सामने आता है।

☐ **मार्कण्डेय** द्वारा सम्पादित

☐ **सहायक** : सन्तोष कुमार चतुर्वेदी

☐ **इस अंक का मूल्य** : ४०.००

☐ **रामायण प्रेस,** ७३६ (पिंक मार्केट)
पुराना कटरा, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

☐ **कम्प्यूटर कम्पोजिंग** : दुर्गा कम्प्यूट्रानिक्स
७३५/१, जायसवाल मार्केट, कटरा, इलाहाबाद

☐ **प्रकाशक** : कथा प्रकाशन
ए डी -२, एकांकी कुंज, २४ म्योर रोड, इलाहाबाद - २११००१

चंदा

चार अंकों के लिए एक सौ रुपये मनीआर्डर या ड्राफ्ट द्वारा 'कथा' के नाम से भेंजे।

नमूने की प्रति के लिए ४०.०० रु. का मनीआर्डर भेजकर ही लिखें।

आजीवन ग्राहकों के लिए १०००.०० रु० तथा अभिभावकों के लिए २०००.०० रु.

विज्ञापन तथा एंजेंसी के लिए पत्र व्यवहार करें।

समीक्षार्थ पुस्तकें भेजते समय अपने चुने हुए श्रेष्ठ प्रकाशन ही भेजें।

कथा का नया पता

कथा, ए डी -२, एकांकी कुंज, २४ म्योर रोड, इलाहाबाद २११००१
फोन - ६२१६४३

कथा

अंकः ६, जनवरी, १९९९

इस अंक में

पूर्व सम्पादकीय

वीर भारत तलवार : शिक्षा पर औपनिवेशिक राज्य का नियंत्रण : ३

सम्पादकीय : दो शब्द : २७

अशोक बाजपेयी की कविताएं : २६

सम्मान

सन्तोष कुमार चतुर्वेदी : पहल सम्मान – ९७ : ३५

अमरकान्त : शेखर जोशी को बधाई, पहल सम्मान के लिए : ३६

राम कमल राय : नामवर सिंह को हिन्दुस्तानी एकेडेमी सम्मान : ४०

दो कहानियां

विद्यासागर नौटियाल : यह वामणपन टूटे : ४३

नासिरा शर्मा : पाचवां बेटा : ५१

स्मरण

प्रभात पटनायक : कामरेड ई. एस. एस. नम्बुदिरिपाद : एक वैश्विक मनीषा : ५६

के.एन. पणिक्कर : इतिहासकार ई.एम.एस. ६४

शमशेर बहादुर सिंह : दोस्त पहाड़ी : ६८

कुँवर पाल सिंह : जनप्रतिबद्धता का सजग प्रहरी सव्यसांची : ७३

बोधिसत्व की कविताएं : ७८

दो उपन्यास : छोटी सी शुरुआत और चाक

आनंद प्रकाश : भैरव प्रसाद गुप्त का अपने वक्त से सवाल जवाब : ८६
लाल वहादुर वर्मा : वड़ी सी शुरुआत छोटी हो गयी : ६५
परमानंद श्रीवास्तव : गल्प के स्वभाव तथा वृत्तान्त के स्वरूप में हस्तक्षेप किए वगैर : १०१
खगेन्द्र ठाकुर : आधुनिक संस्कृति के निर्माण की कथा : १०८

तीन कहानियां

ममता कालिया : सुरक्षा का आतंक : १२०
सतीश जमाली : जंग जारी : १२६
कृष्ण मोहन : इंकार : १३७

दो कवि

पंकज चतुर्वेदी, विष्णु गोयल : १५०

समालोचना

प्रणय कृष्ण : परम्परा और अज्ञेय की प्रेम कविता : १५३
अरुण माहेश्वरी : छोटी सी शुरुआत और कलि कथा वाया बाईपास एक अहम प्रश्न लेखक की विचारधारा का है : १६६

पुस्तकें और लेखक

राजेश जोशी : नये इलाके में : १७४
वीर भारत तलवार : सन् सत्तावन और नवजागरण : १८१
अजय तिवारी : भारतीय ग्राम, विकास का समाजशास्त्र, समय और संस्कृति : १६२
सत्य प्रकाश मिश्र : तिनका तिनका : प्रतिच्छायाओं की कलासृष्टि : २०१
हरियश राय : सृजन के सहयात्री : २१३
राजेन्द्र कुमार : मोरी की ईट : २१७
लक्ष्मी कांत वर्मा : नई कविता नई दृष्टि : २२३
वाल कृष्ण पांडेय : निकम्मा लड़का : २२६

दो शब्द

पिछले दिनों के असंगत वैचारिक झटकों के बावजूद साहित्य की मंथर गति और वेमिसाल उदास छवि में कोई परिवर्तन नहीं आया है। यह भी कि उपभोक्तावाद और इलेक्ट्रानिक मीडिया के उलजलूल प्रलाप अथवा बेमानी हास्य जैसी सस्ती प्रकृति का उस पर प्रभाव लक्षित नहीं हो रहा है। कुछ बिचौलिये जो साहित्य की चर्चा से अखबारों का कारोवार चलाते हैं – वे भी अव मौके-बेमौके खासकर बड़े-बूढ़े लेखकों की मौत पर ही मुँह खोल रहे हैं।

ऐसा क्यों है? शायद इसलिए कि रचना का साक्ष्य उन्हें नहीं मिल रहा है। इंसलिए पाश्चात्य सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों से उधार लिए हुए विचार हमारे जैसे वदहाल देश में नहीं चल पा रहे हैं। गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी ने आज अनेक लेखकों को सामाजिक परिस्थितियों के यथार्थ की ओर आकर्षित किया है। एक वार फिर वे देश के तात्कालिक हालात पर गहराई से सोच-विचार कर रहे हैं। इधर खासकर कविताओं, कहानियों और उपन्यासों पर ऐसे प्रभाव लक्षित हो रहे हैं, जो हमें आज के जीवन की सच्चाइयों से रुवरू करते हैं।

चकित करने वाली वात तो यह है कि कुछ पुराने मार्क्सवादी जो किसी समय जनता के भीतर वैठे अंधकार और अंधविश्वास के ऊपर क्रान्ति का मुलम्मा चढ़ाया करते थे, आज भी वास्तविकताओं को उसी तरह झुठलाने का काम कर रहे हैं। कथा-प्रसंगों की जगह तकनीक और वाचन-प्रकृति की हिमायत कर रहे हैं। सभी जानते हैं